International Journal of Sociology and Political Science
www.sociologyjournal.in
Online ISSN: 2664-7745
Received: 21-06-2026, Accepted: 22-07-2026, Published: 07-08-2026
Volume 8, Issue 3, 2026, Page No. 88-93

संसदीय विशेषाधिकारों की न्यायिक व्याख्या एक संवैधानिक विश्लेषण

कैलाश
सहायक आचार्य, राजनीति विज्ञान, राजकीय महाविद्यालय बाड़मेर, राजस्थान, भारत
DOI: https://doi.org/10.66856/ijsps.2026.8.3.8075

सारांश

भारतीय संसदीय लोकतंत्र में संसदीय विशेषाधिकार वे संवैधानिक अधिकार, उन्मुक्तियाँ तथा संस्थागत शक्तियाँ हैं, जिनके बिना संसद एवं राज्य विधानमंडल स्वतंत्र, निर्भीक और प्रभावी रूप से अपने विधायी, विचार–विमर्शात्मक, वित्तीय तथा उत्तरदायित्व संबंधी दायित्वों का निर्वहन नहीं कर सकते। इन विशेषाधिकारों का उद्देश्य किसी सांसद या विधायक को व्यक्तिगत लाभ अथवा विशेष दर्जा प्रदान करना नहीं है, बल्कि विधायिका की संस्थागत स्वायत्तता, गरिमा, कार्यक्षमता तथा लोकतांत्रिक उत्तरदायित्व की रक्षा करना है। भारतीय संविधान के अनुच्छेद 105 एवं 194 संसद तथा राज्य विधानमंडलों के सदस्यों को सदन के भीतर भाषण की स्वतंत्रता, मतदान अथवा सदन में व्यक्त विचारों के संबंध में न्यायिक कार्यवाही से उन्मुक्ति तथा अन्य संसदीय विशेषाधिकारों का संवैधानिक आधार प्रदान करते हैं। यद्यपि संविधान ने इन विशेषाधिकारों की मूल रूपरेखा निर्धारित की है, किन्तु उनका पूर्ण संहिताकरण नहीं किया गया है। फलस्वरूप विशेषाधिकारों की प्रकृति, सीमा, स्रोत तथा उनके प्रयोग की संवैधानिक वैधता का विकास मुख्यतः न्यायपालिका की व्याख्याओं के माध्यम से हुआ है। प्रस्तुत शोध–पत्र भारतीय संसदीय विशेषाधिकारों की न्यायिक व्याख्या का संवैधानिक विश्लेषण प्रस्तुत करता है। अध्ययन में एम.एस.एम. शर्मा बनाम श्रीकृष्ण सिन्हा (सर्चलाइट प्रकरण), केशव सिंह संदर्भ, पी.वी. नरसिम्हा राव बनाम राज्य (CBI/SPE), राजा राम पाल बनाम माननीय अध्यक्ष, लोकसभा तथा सीता सोरेन बनाम भारत संघ (2024) जैसे ऐतिहासिक निर्णयों का आलोचनात्मक परीक्षण किया गया है। इन निर्णयों के माध्यम से सर्वोच्च न्यायालय ने समय–समय पर संसदीय विशेषाधिकारों की संवैधानिक सीमाओं, न्यायिक समीक्षा की परिधि, विधायिका की संस्थागत स्वायत्तता तथा नागरिक अधिकारों के मध्य संतुलन स्थापित करने का प्रयास किया है। न्यायालय ने स्पष्ट किया है कि संसदीय विशेषाधिकार लोकतांत्रिक संस्थाओं के सुचारु संचालन के लिए आवश्यक अवश्य हैं, परन्तु वे संविधान से ऊपर अथवा न्यायिक परीक्षण से पूर्णतः मुक्त नहीं हैं। शोध से यह निष्कर्ष प्राप्त होता है कि भारतीय न्यायपालिका ने संसदीय विशेषाधिकारों की व्याख्या में "कार्यात्मक आवश्यकता" (Functional Necessity), "संवैधानिक सर्वोच्चता" (Constitutional Supremacy), "विधि का शासन" (Rule of Law), "लोकतांत्रिक उत्तरदायित्व" (Democratic Accountability) तथा "सीमित न्यायिक समीक्षा" (Limited Judicial Review) जैसे सिद्धांतों को आधार बनाया है। विशेष रूप से सीता सोरेन निर्णय ने यह स्थापित किया कि रिश्वत जैसे आपराधिक कृत्य को संसदीय विशेषाधिकारों का संरक्षण प्राप्त नहीं हो सकता, क्योंकि विशेषाधिकारों का उद्देश्य विधायी कार्यों की स्वतंत्रता की रक्षा करना है, न कि भ्रष्टाचार अथवा अनैतिक आचरण को संरक्षण देना। इस निर्णय ने सार्वजनिक जीवन में नैतिकता, पारदर्शिता एवं संवैधानिक उत्तरदायित्व को नई दिशा प्रदान की है। अतः यह शोध–पत्र इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि भारतीय लोकतंत्र में संसदीय विशेषाधिकारों का वास्तविक औचित्य तभी सार्थक है, जब उनका प्रयोग संविधान की मूल भावना, लोकतांत्रिक मूल्यों, नागरिक स्वतंत्रताओं तथा विधि के शासन के अनुरूप किया जाए। भविष्य में विशेषाधिकारों का स्पष्ट संहिताकरण, पारदर्शी प्रक्रियाएँ, न्यायसंगत अनुशासनात्मक व्यवस्था तथा सीमित किन्तु प्रभावी न्यायिक समीक्षा भारतीय संसदीय लोकतंत्र को अधिक उत्तरदायी, पारदर्शी एवं सुदृढ़ बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकते हैं।

मुलशब्द: संसदीय विशेषाधिकार, अनुच्छेद 105, अनुच्छेद 194, न्यायिक समीक्षा, संवैधानिक सर्वोच्चता, विधि का शासन, विधायी स्वायत्तता, लोकतांत्रिक उत्तरदायित्व।

ाारतीय लोकतांत्रिक शासन व्यवस्था में संसद राष्ट्र की सर्वोच्च विधायी संस्था है, जो केवल कानून निर्माण तक सीमित नहीं है, बल्कि लोकतांत्रिक शासन की आधारशिला के रूप में कार्य करती है। संसद वह संवैधानिक मंच है जहाँ जनता के निर्वाचित प्रतिनिधि राष्ट्रीय महत्व के विषयों पर विचार–विमर्श करते हैं, सरकार की नीतियों एवं कार्यों की समीक्षा करते हैं, सार्वजनिक व्यय और वित्तीय प्रशासन पर नियंत्रण स्थापित करते हैं तथा कार्यपालिका को जनता के प्रति उत्तरदायी बनाए रखते हैं। प्रश्नकाल, शून्यकाल, स्थायी समितियाँ, विधेयकों पर बहस, बजट पर चर्चा तथा जनहित के विभिन्न विषयों पर विचार–विमर्श संसद की लोकतांत्रिक भूमिका को सुदृढ़ बनाते हैं। ऐसी स्थिति में यह आवश्यक है कि संसद एवं राज्य विधानमंडलों के सदस्य किसी भी प्रकार के बाहरी दबाव, न्यायिक उत्पीड़न, राजनीतिक प्रतिशोध अथवा कार्यपालिका के अनुचित हस्तक्षेप से मुक्त होकर अपने संवैधानिक दायित्वों का निर्वहन कर सकें। इसी आवश्यकता की पूर्ति के लिए संसदीय विशेषाधिकारों की अवधारणा विकसित हुई, जिसका मूल उद्देश्य विधायिका की संस्थागत स्वतंत्रता एवं प्रभावशीलता की रक्षा करना है। भारतीय संविधान के निर्माताओं ने ब्रिटिश संसदीय परंपरा से प्रेरणा लेते हुए संसदीय विशेषाधिकारों को स्वीकार किया, किन्तु उन्हें ब्रिटेन की भाँति संसदीय सर्वोच्चता के सिद्धांत पर आधारित न रखकर संविधान की सर्वोच्चता, मौलिक अधिकारों तथा न्यायिक समीक्षा की संवैधानिक व्यवस्था के अंतर्गत स्थान दिया। संविधान के अनुच्छेद 105 एवं 194 संसद तथा राज्य विधानमंडलों के सदस्यों को सदन के भीतर भाषण की स्वतंत्रता, मतदान के संबंध में न्यायिक कार्यवाही से उन्मुक्ति तथा अन्य आवश्यक विशेषाधिकार प्रदान

करते हैं। इन विशेषाधिकारों का उद्देश्य किसी सांसद या विधायक को व्यक्तिगत लाभ या विशेष दर्जा प्रदान करना नहीं है, बल्कि विधायी प्रक्रिया की स्वतंत्रता, निष्पक्षता, गरिमा तथा प्रभावशीलता को बनाए रखना है। इसलिए संसदीय विशेषाधिकारों का वास्तविक औचित्य संस्थागत है, व्यक्तिगत नहीं। वे केवल उसी सीमा तक मान्य हैं जहाँ तक वे लोकतांत्रिक विधायी कार्यों के निर्बाध संचालन के लिए आवश्यक हों। संसदीय विशेषाधिकारों की व्याख्या सदैव एक संवैधानिक संतुलन का विषय रही है। यदि इन विशेषाधिकारों की अत्यधिक संकीर्ण व्याख्या की जाए तो संसद एवं विधानमंडलों की स्वतंत्रता तथा कार्यकुशलता प्रभावित हो सकती है, वहीं यदि उन्हें असीमित अथवा निरपेक्ष अधिकार के रूप में स्वीकार कर लिया जाए तो अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता, प्राकृतिक न्याय, विधि के शासन तथा नागरिकों के मौलिक अधिकारों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ सकता है। यही कारण है कि भारतीय न्यायपालिका ने विभिन्न संवैधानिक विवादों के माध्यम से संसदीय विशेषाधिकारों की सीमाओं, प्रकृति तथा उद्देश्य का क्रमिक विकास किया है। सर्वोच्च न्यायालय ने अपने अनेक ऐतिहासिक निर्णयों में यह स्पष्ट किया है कि संसदीय विशेषाधिकार लोकतांत्रिक शासन की आवश्यकता अवश्य हैं, परन्तु वे संविधान से ऊपर नहीं हैं तथा उनका प्रयोग संवैधानिक मर्यादाओं के अधीन ही किया जाना चाहिए।

समकालीन लोकतांत्रिक परिदृश्य में संसदीय विशेषाधिकारों का महत्व और अधिक बढ़ गया है। मीडिया की सक्रियता, डिजिटल संचार, सोशल मीडिया, खोजी पत्रकारिता, स्टिंग ऑपरेशन, संसदीय अनुशासन, जनप्रतिनिधियों की नैतिक जवाबदेही तथा विधायी भ्रष्टाचार जैसे विषयों ने संसदीय विशेषाधिकारों और न्यायिक समीक्षा के मध्य संबंध को नई दिशा प्रदान की है। विशेष रूप से सांसदों एवं विधायकों के आचरण, विशेषाधिकार–भंग की कार्यवाही, निष्कासन, निलंबन तथा रिश्वत जैसे मामलों ने यह प्रश्न पुनः उठाया है कि क्या विधायिका की स्वायत्तता पूर्णतः न्यायिक परीक्षण से परे है अथवा संविधान की सर्वोच्चता के अंतर्गत न्यायपालिका सीमित संवैधानिक समीक्षा कर सकती है। सर्वोच्च न्यायालय ने एम.एस.एम. शर्मा, केशव सिंह, पी.वी. नरसिम्हा राव, राजा राम पाल तथा सीता सोरेन जैसे महत्वपूर्ण निर्णयों के माध्यम से इस प्रश्न का संतुलित उत्तर प्रस्तुत किया है। प्रस्तुत शोध–पत्र का उद्देश्य संसदीय विशेषाधिकारों की संवैधानिक अवधारणा, उनके ऐतिहासिक विकास, संवैधानिक आधार तथा सर्वोच्च न्यायालय द्वारा समय–समय पर की गई न्यायिक व्याख्याओं का समालोचनात्मक अध्ययन करना है। साथ ही यह शोध इस तथ्य का विश्लेषण करता है कि भारतीय न्यायपालिका ने संसदीय स्वायत्तता, संवैधानिक सर्वोच्चता, विधि के शासन, लोकतांत्रिक उत्तरदायित्व तथा न्यायिक समीक्षा के मध्य किस प्रकार संतुलन स्थापित किया है। वर्तमान संवैधानिक परिप्रेक्ष्य में यह अध्ययन न केवल संसदीय विशेषाधिकारों की सीमाओं और औचित्य को स्पष्ट करता है, बल्कि भारतीय लोकतंत्र को अधिक पारदर्शी, उत्तरदायी और संवैधानिक मूल्यों के अनुरूप बनाने की दिशा में भी महत्वपूर्ण दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है।

संवैधानिक ढांचा और विशेषाधिकारों का स्वरूप

अनुच्छेद 105 (1) संसद में भाषण की स्वतंत्रता देता है, पर वह संविधान और सदन के नियमों के अधीन है। अनुच्छेद 105(2) के अनुसार संसद के किसी सदस्य पर सदन में कही गई बात या दिए गए मत के संबंध में किसी न्यायालय में कार्यवाही नहीं होगी, इसी प्रकार किसी व्यक्ति को संसद के प्राधिकार से प्रकाशित रिपोर्ट, पत्र, मत अथवा कार्यवाही के कारण संरक्षण मिलता है। अनुच्छेद 105 (3) संसद और उसके सदस्यों तथा समितियों की अन्य शक्तियों और विशेषाधिकारों को विधि द्वारा परिभाषित किए जाने तक उस रूप में मान्यता देता है, जैसा संविधान में समय–समय पर निर्धारित है। अनुच्छेद 194 राज्य विधानमंडलों के लिए लगभग यही समान व्यवस्था निश्चित करता है। इस संरचना को अनुच्छेद 122 के साथ पढ़ना आवश्यक है। यह अनुच्छेद प्रक्रिया की कथित अनियमितता के आधार पर संसदीय कार्यवाही की न्यायिक जाँच पर रोक लगाता है और सदन के अधिकारी अथवा सदस्य द्वारा प्रक्रिया विनियमन संबंधी शक्ति के प्रयोग को न्यायालयीय अधिकार क्षेत्र से बचाता है। राज्य विधानमंडलों के लिए समान उपबंध अनुच्छेद 212 में है। किंतु श्अनियमितताश और श्अवैधता में अंतर है। मात्र प्रक्रियात्मक त्रुटि सामान्यतः न्यायिक हस्तक्षेप का आधार नहीं, जबकि संवैधानिक निषेध, अधिकार–क्षेत्र का अभाव या प्रत्यक्ष दुर्भावना अलग प्रश्न पैदा कर सकते हैं। विशेषाधिकारों को दो प्रकारों में समझा जा सकता है। पहला, व्यक्तिगत उन्मुक्तियाँ जैसे सदन में भाषण और वोट के लिए दायित्व से सुरक्षा। दूसरा, सामूहिक शक्तियाँ जैसे कार्यवाही नियंत्रित करना, समिति के समक्ष उपस्थिति या दस्तावेज मँगाना और सदन की अवमानना विशेषाधिकार–भंग पर कार्रवाई करना। परंतु किसी शक्ति का ऐतिहासिक स्रोत ही पर्याप्त नहीं है। भारतीय संदर्भ में उसका प्रयोग संविधान की संरचना, लोकतांत्रिक जवाबदेही और अनुपातिकता के अनुरूप होना चाहिए।

सर्वोच्च न्यायालय के प्रमुख निर्णयों का विश्लेषण

पंडित एम. एस. एम. शर्मा बनाम श्रीकृष्ण सिन्हा (सर्चलाइट प्रकरण)– सर्चलाइट प्रकरण में बिहार विधानसभा की कार्यवाही के एक अंश के प्रकाशन पर विवाद हुआ। याचिकाकर्ता समाचारपत्र के संपादक ने अनुच्छेद 19 (1) (क) के अंतर्गत प्रेस की स्वतंत्रता का सहारा लिया, जबकि विधानसभा ने अपने विशेषाधिकार और कार्यवाही के प्रकाशन पर नियंत्रण का दावा किया। सर्वोच्च न्यायालय ने माना कि अनुच्छेद 194 (3) के अंतर्गत मान्य विशेषाधिकार संवैधानिक दर्जा रखते हैं और उनके साथ मौलिक अधिकारों को यथासंभव सामंजस्यपूर्ण ढंग से पढ़ा जाना चाहिए। निर्णय का प्रभाव यह था कि विशेषाधिकार–आधारित संरक्षण को साधारण विधि या सामान्य दावा भर नहीं समझा जा सकता।श फिर भी इस फैसले का सही पाठ यह नहीं है कि विशेषाधिकार हर स्थिति में मौलिक अधिकारों को निष्प्रभावी कर देते हैं। मामले की पृष्ठभूमि कार्यवाही के अनधिकृत प्रकाशन की थी और न्यायालय ने विशेष संवैधानिक प्रावधान के पक्ष में निर्णय दिया था। बाद के निर्णयों ने इस भाषा को व्यापक निरंकुशता के लाइसेंस की तरह स्वीकार नहीं किया। इसलिए सर्चलाइट का स्थायी महत्व विशेषाधिकार की संवैधानिक मान्यता और दो संवैधानिक मूल्यों के सामंजस्य में है, न कि प्रेस अथवा नागरिक स्वतंत्रता पर सामान्य वरीयता में।"

केशव सिंह प्रकरण (1964) –केशव सिंह प्रकरण विधायिका और न्यायपालिका के सीधे संस्थागत टकराव की पृष्ठभूमि में आया। उत्तर प्रदेश विधानसमा ने एक नागरिक को विशेषाधिकार–भंग के लिए कारावास दिया। उच्च न्यायालय ने बंदी प्रत्यक्षीकरण याचिका पर उस नागरिक को राहत दी, जिसके बाद विधानसभा ने न्यायाधीशों और अधिवक्ताओं के विरुद्ध कार्रवाई का प्रस्ताव किया। राष्ट्रपति ने अनुच्छेद 143 के अंतर्गत सर्वोच्च न्यायालय से परामर्श माँगा। सर्वोच्च न्यायालय ने माना कि सदन को विशेषाधिकार–भंग पर दंड की शक्ति प्राप्त है, किंतु यह शक्ति असीमित नहीं और न ही न्यायालय का संवैधानिक अधिकार–क्षेत्र समाप्त हो जाता है। न्यायालय ने यह भी रेखांकित किया कि उच्च न्यायालय का अनुच्छेद 226 के तहत अधिकार और सर्वोच्च न्यायालय का अनुच्छेद 32 के तहत अधिकार संविधान से प्राप्त है, विधायी प्रस्ताव उन्हें समाप्त नहीं कर सकता। यह निर्णय

भारतीय संवैधानिकता का निर्णायक मोड है क्योंकि उसने श्सदन अपने विशेषाधिकार का अंतिम न्यायाधीश है कथन को संविधान सीमित अर्थ दिया। केशव सिंह का मानदंड संस्थागत सम्मान पर आधारित है। न्यायालय सामान्यतः सदन की आंतरिक अनुशासनात्मक समझ में दखल नहीं देगा, लेकिन जब व्यक्तिगत स्वतंत्रता, अधिकार क्षेत्र या संवैधानिक सीमा का गंभीर प्रश्न उठे, तो न्यायिक उपचार उपलब्ध रहना चाहिए। इस दृष्टिकोण ने शक्ति पृथक्करण को प्रतिद्वंद्विता नहीं, बल्कि परस्पर संवैधानिक नियंत्रण के रूप में देखा।

पी. वी. नरसिम्हा राव बनाम राज्य (सीबीआई/एसपीई)

झारखंड मुक्ति मोर्चा रिश्वत प्रकरण में प्रश्न था कि क्या सांसद को रिश्वत लेकर सदन में मतदान करने पर आपराधिक अभियोजन से अनुच्छेद 105 (2) की उन्मुक्ति मिल सकती है। बहुमत ने उन्मुक्ति की व्यापक व्याख्या करते हुए कहा कि जिस सदस्य ने रिश्वत के बाद वोट दिया, उसके मतदान से संबंधित अभियोजन को अनुच्छेद 105 (2) रोकता है। वहीं जिस सदस्य ने रिश्वत ली पर वोट नहीं दिया, उसे वह सुरक्षा नहीं मिली। यह निष्कर्ष तीखी आलोचना का विषय बना। असहमति मत का मूल तर्क था कि रिश्वत लेना संसदीय कार्य का अंग नहीं, बल्कि उसकी शुचिता पर प्रहार है। बहुमत की कार्यात्मक दलील कि वोट की प्रेरणा की न्यायिक जाँच से सदन की स्वतंत्रता प्रभावित हो सकती है व्यावहारिक चिंता तो रखती थी, पर उसने भ्रष्टाचार और वैध विधायी कृत्य के बीच आवश्यक भेद धुंधला कर दिया। परिणामस्वरूप एक विचित्र स्थिति बनी जिसमें वोट देने वाला रिश्वतखोर अधिक संरक्षित और वोट न देने वाला कम संरक्षित हो सकता था।

राजा राम पाल बनाम माननीय अध्यक्ष, लोकसभा–'कैश–फॉर–क्वेरी' प्रकरण में टेलीविजन स्टिंग के बाद लोकसभा और राज्यसभा ने कुछ सदस्यों को निष्कासित किया। चुनौती में कहा गया कि निष्कासन की शक्ति संविधान में स्पष्ट नहीं और अनुच्छेद 122 न्यायिक समीक्षा को रोकता है। संविधान पीठ ने सदन की गरिमा की रक्षा तथा अपने सदस्यों के दुराचरण पर कार्रवाई की अंतर्निहित शक्ति को स्वीकार किया, इसलिए निष्कासन को सिद्धांततः वैध माना।" लेकिन राजा राम पाल विवाद का सबसे महत्वपूर्ण पक्ष न्यायिक समीक्षा पर है। न्यायालय ने कहा कि विशेषाधिकार के प्रयोग पर पूर्ण निषेध नहीं लगाया जा सकता। यदि निर्णय में अवैधता, असंवैधानिकता, दुर्भावना, अधिकार क्षेत्र की त्रुटि या गंभीर प्रक्रियागत अनियमितता हो, तो न्यायालय समीक्षा कर सकता है। साथ ही, न्यायालय ने चेताया कि निष्कासन प्रतिनिधि और मतदाताओं दोनों कोप्रभावित करता है अतः ऐसी शक्ति का प्रयोग असाधारण परिस्थितियों में ही होना चाहिए। इसने संस्थागत स्वायत्तता के साथ लोकतांत्रिक प्रतिनिधित्व का मूल्य जोड़ा।

सीता सोरेन बनाम भारत संघ (2024)– सात–न्यायाधीशीय पीठ ने सीता सोरेन विवाद में पी. वी. नरसिम्हा राव विवाद के उस निष्कर्ष को सर्वसम्मति से अस्वीकार किया जिसके अनुसार रिश्वत लेकर दिया गया वोट अथवा भाषण अभियोजन से संरक्षित हो सकता था। न्यायालय ने कहा कि अनुच्छेद 105 (2) और 194(2) का उद्देश्य विधायी कर्तव्यों के स्वतंत्र निर्वहन की रक्षा है, अपराध को संरक्षण देना नहीं। रिश्वत लेना अपने आप में पूर्ण अपराध है उसका मुकदमा चलाने के लिए सदन के भाषण या वोट पर प्रश्न उठाना आवश्यक नहीं। यह निर्णय विशेषाधिकार सिद्धांत की दिशा बदलता है। न्यायालय ने कार्यात्मकता की कसौटी अपनाते हुए स्पष्ट किया कि जो कार्य विधायी कार्य के आवश्यक अंग नहीं हैं, वे उन्मुक्ति के दायरे में नहीं आ सकते। रिश्वत लोकतांत्रिक निर्णय को विश्वास, दोनों के विरुद्ध है। यह व्याख्या संविधान की नैतिक संरचना, लोकतांत्रिक जवाबदेही, शुचिता और विधि के शासन को विशेषाधिकार की सीमा तय करने में निर्णायक मानती है।

न्यायिक व्याख्या से विकसित संवैधानिक सिद्धांत–

संसदीय विशेषाधिकारों से संबंधित सर्वोच्च न्यायालय के विभिन्न निर्णयों का समग्र अध्ययन यह स्पष्ट करता है कि भारतीय न्यायशास्त्र ने समय के साथ एक संतुलित संवैधानिक दृष्टिकोण विकसित किया है। प्रारंभिक निर्णयों में जहाँ विधायिका की स्वायत्तता और विशेषाधिकारों की संवैधानिक मान्यता पर अधिक बल दिया गया, वहीं बाद के निर्णयों में संविधान की सर्वोच्चता, विधि के शासन, लोकतांत्रिक उत्तरदायित्व तथा न्यायिक समीक्षा के सिद्धांतों को समान रूप से महत्व दिया गया। परिणामस्वरूप भारतीय न्यायपालिका ने ऐसा व्याख्यात्मक ढाँचा विकसित किया है जिसमें न तो संसदीय विशेषाधिकारों को निरपेक्ष अधिकार माना गया है और न ही न्यायपालिका को विधायिका के आंतरिक कार्यों में अनावश्यक हस्तक्षेप करने का अधिकार प्रदान किया गया है। यह संतुलित दृष्टिकोण भारतीय संवैधानिक लोकतंत्र की मूल भावना के अनुरूप है।

सर्वप्रथम, न्यायालयों ने कार्यात्मक आवश्यकता (Functional Necessity) के सिद्धांत को संसदीय विशेषाधिकारों की आधारशिला के रूप में स्वीकार किया है। इस सिद्धांत का अभिप्राय यह है कि विशेषाधिकार केवल उसी सीमा तक मान्य हैं, जहाँ तक वे संसद अथवा विधानमंडल के स्वतंत्र, निर्भीक एवं प्रभावी संचालन के लिए आवश्यक हों। किसी भी विशेषाधिकार का औचित्य उसकी ऐतिहासिक उत्पत्ति या परंपरागत अस्तित्व से नहीं, बल्कि उसकी संस्थागत आवश्यकता से निर्धारित होता है। यदि कोई अधिकार विधायी कार्यों के निष्पादन के लिए आवश्यक नहीं है, तो उसे विशेषाधिकार के रूप में संरक्षित नहीं किया जा सकता। सीता सोरेन निर्णय में सर्वोच्च न्यायालय ने इसी सिद्धांत को अपनाते हुए स्पष्ट किया कि रिश्वत लेना किसी भी प्रकार से विधायी कार्य का आवश्यक अंग नहीं माना जा सकता; अतः उसे संवैधानिक उन्मुक्ति का संरक्षण प्राप्त नहीं होगा।

दूसरा महत्वपूर्ण सिद्धांत संवैधानिक सर्वोच्चता (Constitutional Supremacy) का है। भारतीय संविधान शासन की प्रत्येक संस्था की शक्तियों का स्रोत एवं सीमा दोनों निर्धारित करता है। संसद, कार्यपालिका और न्यायपालिकाकृसभी अपनी वैधता संविधान से प्राप्त करते हैं। इसलिए संसदीय विशेषाधिकारों का प्रयोग भी संविधान के अधीन ही किया जा सकता है। सर्वोच्च न्यायालय ने बार–बार यह स्पष्ट किया है कि विशेषाधिकारों का अस्तित्व संविधान की मूल संरचना, मौलिक अधिकारों तथा लोकतांत्रिक मूल्यों से पृथक नहीं है। इस प्रकार विशेषाधिकारों की व्याख्या ऐसी नहीं हो सकती जो संविधान की सर्वोच्चता को चुनौती दे या उसे अप्रभावी बना दे।

तीसरा सिद्धांत सीमित न्यायिक समीक्षा (Limited Judicial Review) का है। भारतीय न्यायपालिका ने यह स्वीकार किया है कि संसद एवं विधानमंडलों की आंतरिक कार्यवाही में अनावश्यक हस्तक्षेप लोकतांत्रिक संस्थाओं की स्वायत्तता को प्रभावित कर सकता है। इसलिए न्यायालय सामान्यतः संसदीय प्रक्रियाओं, अनुशासनात्मक कार्यवाहियों अथवा राजनीतिक निर्णयों की समीक्षा से परहेज़ करता है। तथापि यदि किसी निर्णय में संवैधानिक प्रावधानों का प्रत्यक्ष उल्लंघन हो, अधिकार–क्षेत्र से बाहर कार्य किया गया हो, दुर्भावना से शक्ति का प्रयोग किया गया हो अथवा प्राकृतिक न्याय के सिद्धांतों की अवहेलना हुई हो, तो न्यायालय सीमित स्तर पर हस्तक्षेप कर सकता है। राजा राम पाल निर्णय ने इस सिद्धांत को स्पष्ट रूप से स्थापित करते हुए यह प्रतिपादित किया कि संसदीय विशेषाधिकार न्यायिक समीक्षा से पूर्णतः परे नहीं हैं।

चौथा सिद्धांत विधि के शासन (Rule of Law) का है, जो भारतीय संविधान की मूल संरचना का अभिन्न अंग है। इस सिद्धांत के अनुसार कोई भी व्यक्ति, संस्था अथवा संवैधानिक पदाधिकारी कानून से ऊपर नहीं है। जनप्रतिनिधियों को प्राप्त संसदीय विशेषाधिकार भी उन्हें सामान्य आपराधिक उत्तरदायित्व से मुक्त नहीं करते। यदि कोई सदस्य रिश्वत, भ्रष्टाचार, धोखाधड़ी अथवा अन्य दंडनीय अपराध करता है, तो वह अपने कृत्य के लिए विधि के समक्ष उत्तरदायी होगा। सीता सोरेन निर्णय ने इस सिद्धांत को नई स्पष्टता प्रदान करते हुए यह घोषित किया कि विशेषाधिकारों का उपयोग भ्रष्टाचार अथवा आपराधिक कृत्यों के संरक्षण के लिए नहीं किया जा सकता। इस प्रकार न्यायालय ने लोकतांत्रिक नैतिकता तथा विधि के शासन को संसदीय विशेषाधिकारों की सीमा निर्धारित करने का महत्वपूर्ण आधार बनाया।

पाँचवाँ सिद्धांत लोकतांत्रिक उत्तरदायित्व एवं संस्थागत नैतिकता का है। भारतीय लोकतंत्र में संसद जनता की संप्रभु इच्छा का प्रतिनिधित्व करती है। इसलिए संसदीय विशेषाधिकारों का उद्देश्य जनता के प्रतिनिधियों को उत्तरदायित्व से मुक्त करना नहीं, बल्कि उन्हें स्वतंत्र वातावरण में जनता के हितों की रक्षा करने योग्य बनाना है। न्यायालय ने यह स्पष्ट किया है कि विशेषाधिकारों का प्रयोग सदन की गरिमा, निष्पक्षता तथा लोकतांत्रिक मूल्यों की रक्षा के लिए होना चाहिए, न कि राजनीतिक प्रतिशोध, व्यक्तिगत संरक्षण अथवा बहुमत के मनमाने प्रयोग के लिए। लोकतांत्रिक संस्थाओं की विश्वसनीयता तभी बनी रह सकती है जब विशेषाधिकारों का प्रयोग पारदर्शी, न्यायसंगत तथा सार्वजनिक हित के अनुरूप हो।

छठा महत्वपूर्ण सिद्धांत प्राकृतिक न्याय एवं अनुपातिकता (Natural Justice and Proportionality) का है। विशेषाधिकार–भंग अथवा अनुशासनात्मक कार्यवाही करते समय संबंधित सदस्य अथवा व्यक्ति को आरोपों की जानकारी, उत्तर प्रस्तुत करने का अवसर तथा निष्पक्ष सुनवाई उपलब्ध कराना आवश्यक है। साथ ही दंड की प्रकृति कथित आचरण की गंभीरता के अनुरूप होनी चाहिए। लोकतांत्रिक शासन में अनुशासन बनाए रखना आवश्यक है, किन्तु अनुशासन के नाम पर अत्यधिक कठोर अथवा असंगत दंड देना संवैधानिक न्याय के सिद्धांतों के विपरीत होगा। अनुपातिकता का सिद्धांत इस बात को सुनिश्चित करता है कि विशेषाधिकारों का प्रयोग विवेकपूर्ण एवं न्यायोचित सीमा में ही किया जाए।

इन सभी सिद्धांतों का समेकित अध्ययन यह स्पष्ट करता है कि भारतीय न्यायपालिका ने संसदीय विशेषाधिकारों की ऐसी व्याख्या विकसित की है, जो विधायिका की संस्थागत स्वतंत्रता और संविधान की सर्वोच्चता के मध्य संतुलन स्थापित करती है। यह संतुलन न केवल लोकतांत्रिक शासन व्यवस्था की स्थिरता के लिए आवश्यक है, बल्कि नागरिक अधिकारों, विधि के शासन तथा सार्वजनिक उत्तरदायित्व की रक्षा के लिए भी अनिवार्य है। इसलिए वर्तमान संवैधानिक व्यवस्था में संसदीय विशेषाधिकारों को निरपेक्ष अधिकार के रूप में नहीं, बल्कि लोकतांत्रिक संस्थाओं के सुचारु संचालन हेतु प्रदत्त संवैधानिक साधन के रूप में समझना अधिक उपयुक्त है। यही दृष्टिकोण भारतीय न्यायशास्त्र की विकसित संवैधानिक सोच का प्रतिनिधित्व करता है तथा भविष्य में संसदीय विशेषाधिकारों की न्यायिक व्याख्या का भी मार्गदर्शन करेगा।

समकालीन मुद्दे और आलोचनात्मक विमर्श

पहला मुद्दा विशेषाधिकारों के अपूर्ण संहिताकरण का है। अनुच्छेद 105(3) और 194(3) के बावजूद संसद ने व्यापक कानून द्वारा सभी विशेषाधिकारों को परिभाषित नहीं किया है। लचीलापन इसका लाभ है, क्योंकि सदन नई परिस्थितियों से निपट सकता है पर अस्पष्टता नागरिकों, मीडिया और स्वयं सदस्यों के लिए अनिश्चितता पैदा करती है। विशेषाधिकार भंग के आरोप, नोटिस, समिति–जाँच और दंड के लिए स्पष्ट मानक, कारणयुक्त आदेश और अनुपातिक दंड की व्यवस्था विधायी स्वायत्तता को कमजोर नहीं, बल्कि वैधता प्रदान करेगी।

दूसरा मुद्दा मीडिया और डिजिटल मंचों का है। लाइव स्ट्रीमिंग, सोशल मीडिया क्लिप, अनधिकृत दस्तावेज और त्वरित टिप्पणी ने कार्यवाही के नियंत्रण के पुराने मॉडल को चुनौती दी है। यहाँ विशेषाधिकार का उद्देश्य आलोचना से बचाव नहीं हो सकता। कठोर अथवा असुविधाजनक पत्रकारिता और सदन की वास्तविक अवमानना में भेद करना जरूरी है। जनता का जानने का अधिकार, प्रेस की स्वतंत्रता और सदन की सुव्यवस्थित प्रक्रिया तीनों को संदर्भ–संवेदनशील और न्यूनतम प्रतिबंधात्मक दृष्टि से संतुलित किया जाना चाहिए।"

तीसरा मुद्दा अनुशासनात्मक कार्रवाई की लोकतांत्रिक लागत है। निलंबन और निष्कासन केवल सदस्य को नहीं, उसके निर्वाचन क्षेत्र को भी प्रभावित करते हैं। राजा राम पाल के बाद उचित प्रक्रिया का अर्थ सूचना, आरोप की स्पष्टता, उत्तर देने का अवसर, निष्पक्ष समिति, कारणयुक्त निष्कर्ष और दंड की अनुपातिकता होना चाहिए। न्यायिक समीक्षा को अपील में बदलना उचित नहीं, पर यह सुनिश्चित करना आवश्यक है कि बहुमत शक्ति का प्रयोग राजनीतिक प्रतिशोध का साधन न बने।"

चौथा मुद्दा भ्रष्टाचार के विरुद्ध संस्थागत उत्तरदायित्व है। सीता सोरेन विवाद ने यह स्पष्ट क कि विधायी उन्मुक्ति रिश्वत के लिए ढाल नहीं है। आगे की चुनौती यह है कि जाँच ए राजनीतिक दबाव से मुक्त और प्रक्रिया सम्मत ढंग से कार्य करें। स्वस्थ व्यवस्था में सदन का अनुशासन, स्वतंत्र आपराधिक जाँच और सीमित न्यायिक निगरानी परस्पर पूरक होने चाहिए, प्रतिस्पर्धी नहीं।

न्यायिक सिद्धांतों का समेकित मूल्यांकन

इन निर्णयों को एक साथ पढ़ने पर चार परस्पर संबद्ध सिद्धांत दिखाई देते हैं। पहला, कार्यात्मक आवश्यकता का सिद्धांत है जिसके अनुसार संरक्षण केवल उस सीमा तक है जहाँ वह बहस, मतदान, समिति–कार्य और सदन के सुव्यवस्थित संचालन के लिए आवश्यक हो। दूसरा, संवैधानिक सर्वोच्चता का सिद्धांत है जो यह निश्चित करता है कि विशेषाधिकार स्वयं संविधान से निकलता है. इसलिए वह संविधान की अन्य धाराओं और उसके बुनियादी लोकतांत्रिक मूल्यों को परास्त नहीं कर सकता। तीसरा, संस्थागत संयम का सिद्धांत है जिसके अनुसार न्यायालय सदन की प्रक्रियात्मक पसंद या राजनीतिक निर्णय की अपील सुनने वाला मंच नहीं है। चौथा, सीमित समीक्षा का सिद्धांत है जो यह निर्धारित करता है कि स्पष्ट संवैधानिक उल्लंघन, दुर्भावना, अधिकार क्षेत्र से बाहर कार्रवाई या प्राकृतिक न्याय की गंभीर विफलता पर उपचार उपलब्ध रहना चाहिए। यह ढाँचा विधायिका बनाम न्यायपालिका की सरल भाषा से अधिक सूक्ष्म है। दोनों संस्थाएँ संविधान से शक्ति प्राप्त करती हैं और दोनों की वैधता जनता के प्रति उत्तरदायित्व से जुड़ी है। यदि न्यायालय हर अनुशासनात्मक प्रश्न में हस्तक्षेप करे तो विधायी स्वायत्तता खोखली होगी और यदि सदन अपने निर्णय को किसी भी बाहरी संवैधानिक मानक से परे घोषित करे तो व्यक्ति की स्वतंत्रता और अल्पसंख्यक प्रतिनिधित्व असुरक्षित होगा। इसलिए संतुलन का अर्थ शक्ति का बराबर बँटवारा नहीं, बल्कि प्रत्येक संस्था का अपने संवैधानिक क्षेत्र में उत्तरदायी रहना है। विशेषाधिकार का प्रयोग करते समय अनुपातिकता विशेष उपयोगी कसौटी है। पहले यह पूछा जाना चाहिए कि कथित आचरण वास्तव में सदन की कार्यवाही या उसकी प्रतिष्ठा को ठोस रूप से प्रभावित करता है या केवल आलोचनात्मक अप्रिय अभिव्यक्ति है। दूसरे, उपलब्ध उपायों में सबसे कम कठोर उपाय कौन–सा है– स्पष्टीकरण,

चेतावनी, रिकॉर्ड से विलोपन, समिति जाँच, निलंबन अथवा निष्कासन। तीसरे, क्या निर्णय के कारण दर्ज हैं और प्रभावित व्यक्ति को उत्तर देने का वास्तविक अवसर मिला है। ऐसी प्रक्रिया विशेषाधिकारों का न्यायिककरण नहीं करती वह उसे विवेकपूर्ण और सार्वजनिक रूप से विश्वसनीय बनाती है। विधायी भाषण और बाहरी आचरण के अंतर पर भी सावधानी आवश्यक है। अनुच्छेद 105(2) के अंतर्गत श्कही गई बातश और श्दिया गया मतश को सुरक्षा मिलती है, पर उससे पहले या बाद में किया गया हर व्यवहार स्वतः संरक्षित नहीं हो जाता। सीता सोरेन मामले का योगदान इसी सीमा को साफ करना है। इसके विपरीत, यदि किसी सदस्य के सदन व्यक्त मत के लिए उसे दीवानी अथवा आपराधिक रूप से घसीटा जाए, तो उन्मुक्ति का मूल उद्देश्य विफल हो जाएगा। अतः न्यायालय को कृत्य का नाम नहीं, उसका वास्तविक संबंध विधायी कार्य से देखना चाहिए। भविष्य में तीन संस्थागत सुधार उपयोगी होंगे। पहला, संसद और विधानमंडल विशेषाधिकार–भंग की कार्यवाही के लिए प्रकाशित दिशानिर्देश अपनाएँ जिनमें शिकायत की प्रारंभिक कसौटी, समिति की संरचना, सुनवाई, आदेश और दंड का क्रम हो। दूसरा, निष्कासन जैसे असाधारण दंड के लिए स्पष्ट कारणों और उच्चतर प्रक्रियात्मक सुरक्षा की व्यवस्था हो। तीसरा, मीडिया और डिजिटल प्लेटफॉर्म के मामलों में प्रतिबंधात्मक कार्रवाई से पहले सार्वजनिक हित, सत्यापन, दुर्भावना और वास्तविक बाधा की कसौटी लागू की जाए। ये सुधार विशेषाधिकारों की शक्ति को घटाएँगे नहीं वे उसे अधिक वैध, अनुमानित और लोकतांत्रिक बनाएँगे।

सुधार एवं सुझाव

भारतीय संसदीय लोकतंत्र में संसदीय विशेषाधिकारों का उद्देश्य विधायिका की स्वतंत्रता, गरिमा एवं कार्यक्षमता की रक्षा करना है। यद्यपि सर्वोच्च न्यायालय के विभिन्न निर्णयों ने इन विशेषाधिकारों की सीमा एवं प्रकृति को पर्याप्त रूप से स्पष्ट किया है, फिर भी व्यावहारिक स्तर पर अनेक ऐसी चुनौतियाँ विद्यमान हैं जिनके कारण विशेषाधिकारों के प्रयोग में अस्पष्टता तथा विवाद उत्पन्न होते रहते हैं। बदलते लोकतांत्रिक परिवेश, डिजिटल संचार, जनप्रतिनिधियों की बढ़ती जवाबदेही तथा पारदर्शिता की अपेक्षाओं को ध्यान में रखते हुए संसदीय विशेषाधिकारों के संबंध में कुछ संस्थागत एवं विधिक सुधार आवश्यक प्रतीत होते हैं।

सबसे पहला और महत्वपूर्ण सुधार संसदीय विशेषाधिकारों के स्पष्ट एवं व्यापक संहिताकरण से संबंधित है। संविधान के अनुच्छेद 105(3) एवं 194(3) के अंतर्गत विशेषाधिकारों को विधि द्वारा परिभाषित किए जाने की व्यवस्था है, किन्तु आज तक संसद ने इनका समग्र विधिक संहिताकरण नहीं किया है। परिणामस्वरूप अनेक विशेषाधिकार परंपराओं, संसदीय प्रथाओं तथा न्यायिक निर्णयों पर आधारित हैं, जिससे उनकी सीमा एवं स्वरूप को लेकर अनिश्चितता बनी रहती है। स्पष्ट विधिक प्रावधान न केवल संसद और विधानमंडलों के लिए उपयोगी होंगे, बल्कि नागरिकों, मीडिया तथा न्यायालयों के लिए भी निश्चित मानक उपलब्ध कराएँगे।

दूसरा महत्वपूर्ण सुधार विशेषाधिकार–भंग की कार्यवाही को अधिक पारदर्शी एवं प्रक्रिया–सम्मत बनाना है। किसी भी व्यक्ति या जनप्रतिनिधि के विरुद्ध विशेषाधिकार–भंग की कार्यवाही प्रारंभ करने से पूर्व आरोपों की स्पष्ट जानकारी, उत्तर प्रस्तुत करने का पर्याप्त अवसर तथा निष्पक्ष सुनवाई सुनिश्चित की जानी चाहिए। विशेषाधिकार समितियों की कार्यप्रणाली में कारणयुक्त निर्णय (त्मेंवदमक व्तकमते), निर्धारित समय–सीमा तथा प्रक्रिया की पारदर्शिता से न्यायसंगतता और सार्वजनिक विश्वास दोनों में वृद्धि होगी। इससे प्राकृतिक न्याय के सिद्धांतों का भी प्रभावी पालन सुनिश्चित होगा।

तीसरा सुधार दंड के अनुपातिक सिद्धांत (Principle of Proportionality) को विधिक रूप से सुदृढ़ करने का है। प्रत्येक विशेषाधिकार–भंग समान गंभीरता का नहीं होता, इसलिए प्रत्येक मामले में निष्कासन या कारावास जैसे कठोर दंड उपयुक्त नहीं माने जा सकते। चेतावनी, क्षमायाचना, निंदा, सीमित अवधि का निलंबन अथवा अन्य वैकल्पिक अनुशासनात्मक उपायों का उपयोग कथित आचरण की गंभीरता के अनुरूप किया जाना चाहिए। इससे विशेषाधिकारों का प्रयोग न्यायपूर्ण एवं संतुलित बना रहेगा।

चौथा सुधार मीडिया एवं डिजिटल प्लेटफ़ॉर्म के संबंध में स्पष्ट दिशा–निर्देश तैयार करने का है। वर्तमान समय में संसदीय कार्यवाही का सीधा प्रसारण, सोशल मीडिया, डिजिटल पत्रकारिता तथा ऑनलाइन संवाद लोकतांत्रिक प्रक्रिया का अभिन्न अंग बन चुके हैं। ऐसी स्थिति में संसदीय विशेषाधिकारों का प्रयोग प्रेस की स्वतंत्रता अथवा नागरिकों के सूचना के अधिकार पर अनावश्यक प्रतिबंध लगाने के लिए नहीं होना चाहिए। आवश्यक है कि आलोचनात्मक अभिव्यक्ति, खोजी पत्रकारिता और वास्तविक विशेषाधिकार–भंग के मध्य स्पष्ट अंतर निर्धारित किया जाए, जिससे लोकतांत्रिक पारदर्शिता तथा संसदीय गरिमा दोनों का संरक्षण हो सके।

पाँचवाँ सुधार भ्रष्टाचार और संसदीय नैतिकता के क्षेत्र में संस्थागत उत्तरदायित्व को और अधिक सुदृढ़ करना है। सीता सोरेन बनाम भारत संघ (2024) के निर्णय ने यह स्पष्ट कर दिया है कि रिश्वत अथवा अन्य आपराधिक कृत्यों को संसदीय विशेषाधिकारों का संरक्षण प्राप्त नहीं हो सकता। इस सिद्धांत को प्रभावी बनाने के लिए संसद और विधानमंडलों की आचार समितियों, सतर्कता तंत्र तथा जाँच एजेंसियों के मध्य समन्वित एवं निष्पक्ष व्यवस्था विकसित की जानी चाहिए, ताकि जनप्रतिनिधियों की जवाबदेही सुनिश्चित हो तथा लोकतांत्रिक संस्थाओं में जनता का विश्वास बना रहे।

छठा सुधार जनप्रतिनिधियों के लिए संसदीय विशेषाधिकारों एवं संसदीय नैतिकता पर नियमित प्रशिक्षण आयोजित करने का है। नव–निर्वाचित सांसदों एवं विधायकों को विशेषाधिकारों की सीमा, संवैधानिक उत्तरदायित्व, संसदीय आचरण तथा न्यायिक निर्णयों से परिचित कराया जाना चाहिए। इससे विशेषाधिकारों के दुरुपयोग की संभावना कम होगी तथा संसदीय संस्थाओं की कार्यक्षमता में वृद्धि होगी।

अंततः यह आवश्यक है कि संसद, न्यायपालिका तथा कार्यपालिका तीनों संवैधानिक संस्थाएँ परस्पर सम्मान, सहयोग एवं संवैधानिक मर्यादा के सिद्धांत का पालन करें। संसदीय विशेषाधिकारों का उद्देश्य किसी संस्था की सर्वोच्चता स्थापित करना नहीं, बल्कि लोकतांत्रिक शासन व्यवस्था को प्रभावी, उत्तरदायी और संवैधानिक मूल्यों के अनुरूप बनाए रखना है। यदि विशेषाधिकारों के प्रयोग में पारदर्शिता, उत्तरदायित्व, विधि का शासन, प्राकृतिक न्याय तथा संवैधानिक नैतिकता को समान रूप से महत्व दिया जाए, तो भारतीय संसदीय लोकतंत्र और अधिक सुदृढ़, विश्वसनीय तथा जनोन्मुखी बन सकता है।

निष्कर्ष

भारतीय संसदीय लोकतंत्र में संसदीय विशेषाधिकारों की अवधारणा का मूल उद्देश्य विधायिका की संस्थागत स्वतंत्रता, गरिमा तथा प्रभावी कार्यप्रणाली को सुनिश्चित करना है। इन विशेषाधिकारों का औचित्य किसी सांसद या विधायक को व्यक्तिगत संरक्षण प्रदान करना नहीं, बल्कि संसद एवं राज्य विधानमंडलों को लोकतांत्रिक उत्तरदायित्व के अनुरूप निर्भीक, निष्पक्ष एवं प्रभावी ढंग से अपने संवैधानिक दायित्वों का निर्वहन करने योग्य बनाना है। प्रस्तुत अध्ययन से स्पष्ट होता है कि भारतीय न्यायपालिका ने संसदीय विशेषाधिकारों की व्याख्या को

समय के साथ निरपेक्ष उन्मुक्ति की अवधारणा से आगे बढ़ाकर संवैधानिक संतुलन, लोकतांत्रिक उत्तरदायित्व तथा विधि के शासन के सिद्धांतों पर आधारित किया है। सर्वोच्च न्यायालय के विभिन्न निर्णयों के क्रमिक विकास से यह स्पष्ट होता है कि प्रारंभिक निर्णयों में संसदीय स्वायत्तता और विशेषाधिकारों की संवैधानिक मान्यता पर बल दिया गया, जबकि बाद के निर्णयों में न्यायपालिका ने यह स्थापित किया कि विशेषाधिकार संविधान से ऊपर नहीं हो सकते। एम.एस.एम. शर्मा प्रकरण ने विशेषाधिकारों की संवैधानिक स्थिति को मान्यता प्रदान की, केशव सिंह मामले ने विधायिका और न्यायपालिका के मध्य संतुलित संवैधानिक संबंधों की आधारशिला रखी, राजा राम पाल निर्णय ने सीमित न्यायिक समीक्षा के सिद्धांत को सुदृढ़ किया तथा सीता सोरेन निर्णय ने यह स्पष्ट कर दिया कि भ्रष्टाचार, रिश्वत अथवा अन्य आपराधिक कृत्य संसदीय विशेषाधिकारों की आड़ में संरक्षित नहीं किए जा सकते। इन निर्णयों ने भारतीय लोकतंत्र में संवैधानिक नैतिकता, पारदर्शिता तथा जनप्रतिनिधियों की जवाबदेही को नई दिशा प्रदान की है। इस अध्ययन का प्रमुख निष्कर्ष यह है कि संसदीय विशेषाधिकारों की वैधता उनकी कार्यात्मक आवश्यकता में निहित है। जहाँ ये विशेषाधिकार सदन की स्वतंत्र बहस, निर्भीक अभिव्यक्ति, प्रभावी विधायी कार्य तथा लोकतांत्रिक संस्थाओं की गरिमा की रक्षा के लिए आवश्यक हैं, वहाँ उन्हें पूर्ण संवैधानिक संरक्षण प्राप्त होना चाहिए। इसके विपरीत, यदि उनका प्रयोग नागरिक स्वतंत्रताओं, विधि के शासन, प्राकृतिक न्याय, आपराधिक उत्तरदायित्व अथवा लोकतांत्रिक प्रतिनिधित्व को अनुचित रूप से प्रभावित करता है, तो संविधान की सर्वोच्चता, अनुपातिकता, न्यायिक समीक्षा तथा संवैधानिक नैतिकता जैसे सिद्धांत नियंत्रणकारी भूमिका निभाएँगे। यही संतुलित दृष्टिकोण भारतीय संविधान की मूल भावना तथा लोकतांत्रिक शासन व्यवस्था के अनुरूप है। वर्तमान समय में लोकतांत्रिक शासन की बदलती चुनौतियाँ जैसे डिजिटल मीडिया का विस्तार, संसदीय आचरण, राजनीतिक नैतिकता, पारदर्शिता तथा जनप्रतिनिधियों की बढ़ती जवाबदेही—यह संकेत देती हैं कि संसदीय विशेषाधिकारों के क्षेत्र में अधिक स्पष्ट, पारदर्शी एवं उत्तरदायी व्यवस्था की आवश्यकता है। विशेषाधिकारों का युक्तिसंगत संहिताकरण, विशेषाधिकार–भंग की प्रक्रिया का मानकीकरण, प्राकृतिक न्याय के सिद्धांतों का पालन तथा दंड के अनुपातिक मानकों का विकास भविष्य में संसदीय संस्थाओं की विश्वसनीयता और लोकतांत्रिक वैधता को और अधिक सुदृढ़ करेगा। अंततः यह कहा जा सकता है कि भारतीय संसदीय लोकतंत्र की वास्तविक शक्ति किसी संस्था की निरपेक्ष सर्वोच्चता में नहीं, बल्कि संविधान द्वारा स्थापित संतुलन, उत्तरदायित्व, पारदर्शिता और विधि के शासन में निहित है। संसदीय विशेषाधिकार तभी अपने वास्तविक उद्देश्य की पूर्ति कर सकते हैं जब उनका प्रयोग लोकतांत्रिक मूल्यों, संवैधानिक मर्यादाओं तथा जनहित के अनुरूप किया जाए। यही दृष्टिकोण भविष्य में संसदीय स्वायत्तता और संवैधानिक उत्तरदायित्व के मध्य संतुलन स्थापित करते हुए भारतीय लोकतंत्र को अधिक सुदृढ़, उत्तरदायी और विश्वसनीय बनाए रखने का आधार बनेगा।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. सुभाष सी. कश्यप, संसदीय प्रक्रिया, कानून, विशेषाधिकार, कार्यप्रणाली और पूर्व–उदाहरण, पृष्ठ संख्या–4. यूनिवर्सल लॉ पब्लिशिंग, नई दिल्ली, 2023
2. एम.पी. जैन, इंडियन कॉन्स्टिट्यूशनल लॉ. पृ.सं. 1020, लेक्सिस नेक्सिस पब्लिकेशन, नई दिल्ली. 2024
3. राजा राम पाल बनाम माननीय अध्यक्ष, लोकसभा, (2007) 3 एससीसी 184!
4. भारत का संविधान, पृ.सं.–47, भारत सरकार, विधि एवं न्याय मंत्रालय, विधायी विभाग, राजभाषा खंड, 2026
5. भारत का संविधान, पृ.सं.–97, भारत सरकार, विधि एवं न्याय मंत्रालय, विधायी विभाग, राजभाषा खंड, 2026 6. सुभाष सी. कश्यप, हमारी संसद, पृ.सं. 198, राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, नई दिल्ली, 2013
6. एम.एस.एम. शर्मा बनाम श्री कृष्ण सिन्हा, AIR 1959 SC 395
7. सुभाष सी. कश्यप, हमारी संसद, पृ.सं. 209, राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, नई दिल्ली,
8. पी.वी. नरसिम्हा राव बनाम राज्य (CBI/SPE), (1998) 4 SCC 626
9. राजा राम पाल बनाम माननीय अध्यक्ष, लोकसभा, (2007) 3 एससीसी 184
10. सीता सोरेन बनाम भारत संघ, 2024 आईएनएससी 161
11. कौल और शकधर, संसद की प्रथा और प्रक्रिया 1660–1688 (लोकसभा सचिवालय, 7वां संस्करण।
12. एम.एस.एम. शर्मा बनाम श्री कृष्ण सिन्हा, AIR 1959 SC 395
13. राजा राम पाल बनाम माननीय अध्यक्ष, लोकसभा, (2007) 3 एससीसी 184